

## ढूढते ढलंखरे, नडे आसडान

गाँव और घर के लोग हम पर तरस खाकर कहते थे: "एक तो बाप नहीं है दूसरे मोटी बुद्धि की! आज के समय में ऐसे लोगों का गुज़ारा नहीं है।" लेकिन हमारी चुप्पी के कुछ कारण थे।... हमारी माँ ने हमें बचपन में बताया था कि पिताजी को जब दुश्मन लोग मार रहे थे, तो उस समय वह यही कहते रहे कि अगर बच गया तो बताऊँगा बेटा। माँ कहती कि अगर पिताजी चुप रहे होते, तो हम सबकी किस्मत जाग जाती। ...तब से हमारे भीतर हमेशा यही बात बैठी थी कि हमको हमेशा चुप रहना है। ससुराल में भी मैंने चुप रहने का संकल्प लिया था। ... लेकिन जब काम शुरू किया, तो एकदम दूसरी तरह का माहौल मिला। अन्दर की जो बात थी उसे मैं स्पष्ट कहने लगी। अम्मा ने क्या बताया था, बिल्कुल भूल गयी।

—संध्या की डायरी से

हमारे साथ शुरू से ही बहुत भेद-भाव हुआ था—बाहर मत जाओ, हँसो मत, अच्छा खाना मत खाओ, घर में बराबर ज़बान मत लड़ाओ लेकिन काम जानवरों की तरह करो—चाहे घर में, चाहे खेत में, चाहे खलिहान में। काम के लिए कहीं कोई मनाही, कोई रोकथाम नहीं थी।...जब मैं पहले शुरुआत में ऑफिस आती थी, तो मन में यही सोचती कि वहाँ पर पता नहीं क्या उम्मीदें होंगी हमसे। इसी से हमको डर लगता था। हम आँख मिलाकर बात भी नहीं करते थे, लेकिन धीरे-धीरे हमारा डर छूटता गया। अब तो कहीं डर नहीं लगता। सामने चाहे जो हो, हम चुप नहीं रहेंगे।

—मधुलिका की डायरी से

काम की शुरुआत से लेकर आज तक मैं लगभग बीस ज़िले घूम चुकी हूँ। काम के ज़रिये सीखने और सिखाने के बहुत मौके मिले। ...बाहर निकलने के साथ ही मुझे बाहरी दुनिया की जानकारी होती

गयी—जैसे औरतों के बारे में लोग क्या सोचते हैं? औरतों के साथ कितने अन्याय होते हैं? कानून बने हैं पर जनता को कौन से हक मिले हैं, कौन से नहीं? ...जैसे—जैसे यह सब जानकारी होती गयी, वैसे—वैसे मेरे अन्दर हिम्मत आती गयी—बोलने की हिम्मत...थाने पर पुलिस जैसे लोगों का सामना करने की हिम्मत...दुनिया को बदलने का सपना देखने की हिम्मत।

—पल्लवी की डायरी से

बचपन से हम सब यही सुनती आयी थीं कि औरतें तो बस बिना मतलब का प्रपंच करती रहती हैं। इनके पास दिमाग नाम की चीज नहीं होती! इसी तरह की और भी न जाने कितनी कैंसी बातें! पर एन.एस.वाय. में काम करते हुए जैसे—जैसे हमारी क्षमताएँ बढ़ती गयीं, वैसे—वैसे हमारे दिलों में बैठे हुए डर और हीन भावनाएँ भी दूर होने लगीं। हमसे अब यह कोई नहीं कह सकता था कि हम लोग कुछ कर नहीं सकतीं। हम सब यह खूब समझ गयी थीं कि हम भी किसी से कम नहीं हैं। बस, ज़रूरत है मौका और माहौल मिलने की। इसका मतलब यह नहीं है कि हमें संघर्ष नहीं करने पड़े। हमने बहुतेरी लड़ाइयाँ लड़ीं—निजी—स्तर पर भी और सामाजिक—स्तर पर भी। इन्हीं संघर्षों से जूझते हुए हमने अपने काम को समझा, परखा, और उसे बराबर नयी गति और नये रुख देने की ऊर्जा पायी। इन्हीं के बीच हमने अपनी सीमाओं को पहचानना भी सीखा। इससे हमें बराबर यह अहसास रहा कि आगे का अभी कितना सारा सफर बाकी है।

मिसाल के तौर पर, एन.एस.वाय. में काम की शुरुआत के साथ ही हमने गुड़िया पीटने की परम्परा को बदलने का बीड़ा उठाया। गुड़िया को दुबारा परिभाषित करने का अभियान मिश्रिख में एन.एस.वाय. के तत्वावधान में और उसी के संसाधनों से किया गया। जिन औरतों और लड़कियों की मान-मर्यादा और हक-हुकूम की खातिर हम सीतापुर में अपना संगठन खड़ा कर रहे थे, उसी ज़िले में हर नागपंचमी को लड़के और नौजवान पुरुष अपनी बहनों द्वारा बड़े जतन से बनाई गुड़ियाओं को सार्वजनिक रूप से पीटते थे। धर्म और समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इस त्योहार को हमने भी बचपन से अपने घरों या मोहल्ले-टोलों में बहुत धूमधाम से मनाये जाते हुए देखा था! गुड़िया के पीटने को हमने प्राचीन हिन्दू-संस्कृति का एक अंग मानकर स्वीकार कर लिया था। किन्तु जब हमने गहराई में जाकर देखा, तो गुड़िया के इस त्योहार में से हिंसा की तीखी गन्ध आई। फिर तो यह तय करने में हमें अधिक देर नहीं लगी कि अगर इस क्षेत्र में महिला-हिंसा के खिलाफ काम करना है, तो सुधार की पहल इस महोत्सव से ही करनी होगी।

अब यह सोचने की ज़रूरत महसूस की कि इस पर किस तरह का प्रहार किया जाये? समस्या स्पष्ट थी कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी जिस प्रथा को इतना मान-सम्मान दिया गया हो, क्या उसे जड़ से उखाड़ कर फेंक देना सम्भव है? अगर ऐसा सम्भव है भी, तो क्या जिस परम्परा को खत्म करने चले हैं, उसकी जगह खाली गड्ढा छोड़ देने से सफलता हासिल हो सकेगी? या फिर पुरानी परम्परा को खोद

कर उसकी जगह एक ऐसी नयी परम्परा के बीज डाले जायें, जिसकी जड़ों से नयी मान्यताएँ और नये संस्कार फूट सकें?

हमें लगा कि पहली राह के बजाय दूसरी राह चुनना दूर-दृष्टि और ज़्यादा ज़िम्मेदारी का परिचायक है, क्योंकि जिन लोगों से हम उनकी पुरानी परम्परा और मान्यता को यह कह कर छीन रहे थे कि वह हीन और हिंसक है, उसकी जगह उन्हें कुछ और देना हमारा फर्ज था। इसीलिये हमने 'गुड़िया पीटें नहीं, झुलाएँ जी' को अपना नारा बनाया।

जैसे-जैसे हम गुड़िया के काम में गहरे उतरते गये, वैसे-वैसे हिंसा और छेड़खानी के मुद्दों पर हमारी समझ और पैनी होती गयी। अपनी खुद की परम्पराओं, ढकोसलों और मान्यताओं को अपने ही घरों में धराशायी करने का हमें साहस भी मिलता गया। इस यात्रा में हमें तमाम वैचारिक संघर्षों का सामना करना पड़ा—कभी खानपान और धर्म को लेकर, कभी माहवारी और मज़हब को लेकर, और कभी स्त्री-पुरुष के बीच के सम्बन्धों को लेकर। यानि हर दो कदम आगे बढ़ाने पर बार-बार ऐसा मालूम हुआ कि अभी इसी दिशा में दो मील और चलना होगा, तब जाकर मंज़िल के करीब पहुँचेंगे... पर इस अहसास ने हमें कभी भी हताश नहीं किया, बल्कि दो-दो कदम आगे बढ़कर हमें हर बार यही लगा कि नई दुनिया को खोजने, पाने और बनाने का काम हमने बखूबी शुरू कर दिया है...।

पिछले सात बरसों में दो-दो कदम चलकर हमने जो यह लम्बा सफ़र तय किया है, उसी के कुछ यादगार पड़ाव इस अध्याय में हम आपके साथ बाँट रहे हैं।

000

चार साल लगातार काम करने के बाद सन् 2000 में एक समय ऐसा आया जब हमारे लिये अपनी ही आँखों पर विश्वास करना मुश्किल हो गया। गुड़िया के दिन नैमिषारण्य में लगभग पाँच हज़ार लोगों की भीड़ ने हमारे संकल्प को अपना संकल्प बना लिया था। गुड़िया झुलाने को तत्पर अनगिनत लोगों की लहर ने जब हम लोगों को बहुत पीछे ढकेल दिया, तो मारे खुशी के हमारी आँखों में आँसू छलक आये। जिस परम्परा को बदलने के लिए हम लोगों ने रात-दिन एक किया था, वह परम्परा हमारे सामने नये अर्थ के साथ बदल रही थी। बदलाव का यह काम अब हम नहीं, बल्कि नीमसार की जनता कर रही थी। हम सब पीछे खड़े ठीक उसी तरह देख रहे थे, जैसे चिड़िया अपने बच्चों को घोंसले से दूर उड़ते हुए देखती है...। अचानक उस पल हमें लगा कि जिस नौकरी की तलाश ने हमें काम से जोड़ा था, वह नौकरी बहुत पीछे छूट गयी है। हम सब संगठित होकर कहीं न कहीं सामाजिक-बदलाव की एक लम्बी प्रक्रिया का हिस्सा बन गये हैं—एक ऐसी प्रक्रिया, जिसमें हर पग आगे बढ़ाते वक्त तमाम ज्वलन्त-प्रश्न और जटिलताएँ हमारे कदमों से लिपट जाती हैं। इन्ही जटिलताओं और ज्वलन्त प्रश्नों के बीच ही हमें अपने निजी, वैवाहिक और संगठनात्मक-जीवन में आगे बढ़ने के रास्ते खोजने पड़ते।

गुड़िया परम्परा पर हमने जो काम किया, उसे ज़िले और प्रदेश में बहुत प्रसिद्धि मिली। उत्तर प्रदेश के बाहर भी लोग इसी काम के माध्यम से हमें पहचानने लगे। जब यह काम बहुत चर्चित होने लगा, तब हमें यह भी बहुत ज़रूरी लगा कि अपने को इससे कुछ देर ज़रा दूर हटाकर इसका ईमानदारी से विश्लेषण करें। सवाल यह भी उठा कि अपने संसाधनों और सीमाओं को देखते हुए

कौन-सा काम हम दीर्घकालीन-स्तर पर आगे बढ़ाने की स्थिति में हैं—परम्पराओं को बदलने का काम या समाज में महिलाओं की स्थिति को सुधारने का काम? इस स्व-मूल्यांकन का सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि हम सब गुड़िया के बाद मिलने वाली प्रसिद्धि में खोये नहीं, बल्कि और अधिक स्पष्ट होते गये कि हमें महिला-हिंसा के मुद्दों पर किस तरह काम करना है। इस सोच को गहराई देने में हमारे जीवन में आये निजी अनुभवों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।

जैसे, 1997 में जिस नागपंचमी के दिन हमने पहली बार गुड़िया झुलायी थी, उसी दिन पल्लवी के साथ एक खतरनाक घटना घटी। इस घटना ने पूरे समूह को हिला दिया। पल्लवी उस समय महिला-संगठन में क्षेत्रीय-कार्यकर्ता थी। अपने दो गाँवों में गुड़िया झुलाकर जब घर चलने को तैयार हुई, तब अँधेरा हो चुका था। एक तो त्योहार का दिन था, ऊपर से दोपहर से ही घर से निकली थी। इसलिए पल्लवी को लगा कि आज तो घर जाना ही चाहिए, नहीं तो घर के लोग ताना मारेंगे कि तुम्हें तो त्योहार के दिन भी छुट्टी नहीं मिलती! गाँव से बाहर सड़क पर उसे टेम्पो मिला। सन्नाटा हो गया था। सड़क पर सवारियाँ भी बहुत कम थीं। टेम्पो में केवल ड्राइवर और उसके साथ चलने वाला लड़का था। सूनसान रास्ते पर आते ही ड्राइवर ने पल्लवी के साथ छेड़खानी करने की नीयत से हाथ बढ़ाया। पल्लवी भी कहाँ डरने वाली थी—खटाक से उसने ड्राइवर की गर्दन पकड़ ली और तब तक न छोड़ी जब तक उसका गाँव न आ गया। संयोग से कार्यालय की गाड़ी भी पीछे से आ गयी और पल्लवी किसी बड़े हादसे की शिकार होने से बच गयी। पर यह डर पल्लवी के मन को लगातार सताता रहा कि अगर घर वालों को इस घटना का पता चल गया, तो बाहर काम नहीं करने देंगे और फिर से शुरू हो जाएगीं जीवन की वही पुरानी परेशानियाँ।

मगर जिस घटना को पल्लवी लोकलाज के मारे घरवालों से छुपा ले गयी, टेम्पो ड्राइवर ने वही बात अपने दोस्तों को खूब बढ़ा-चढ़ा कर बतायी। पलक झपकते ही चारों तरफ यह बात फैल गयी कि पल्लवी के साथ छेड़खानी हुई है। जब समूह को यह बात पता चली तो हमें भयंकर दुख और क्षोभ हुआ। यह भी कि ऐसी ही छेड़खानियों के नाम पर तो ढेरों लड़कियाँ और महिलाएँ आज घरों में कैद हैं। फिर कोई कहाँ दबने वाला था—सबने मिलकर उस टेम्पो ड्राइवर को खोज ही लिया और न चाहते हुए भी हममें से एक का हाथ उस टेम्पो ड्राइवर पर उठ गया।

सैद्धान्तिक रूप से हम लोग मार-पीट को बिल्कुल मान्यता नहीं देते हैं, पर पहली बार आवेश में हुई इस मार-पीट से लोगों को यह भी लगा कि इस संगठन के लोग चाहे सब कुछ बर्दाश्त कर लें, लेकिन महिलाओं के साथ हुई छेड़खानी कतई बर्दाश्त नहीं कर सकते। लाख छुपाने की कोशिशों के बावजूद पल्लवी का नाम चर्चा का विषय बन ही गया था। काम करते हुए अभी एक ही साल तो बीता था और यह हादसा पल्लवी की रुह को कँपाकर उसे फिर से उन सारी गन्दगियों और उस धिनौनेपन की याद दिला गया, जिसे उसने बचपन से बार-बार बहुत करीब से देखा था।

पल्लवी अपनी डायरी में लिखती है—“पता नहीं क्यों मेरी हिम्मत किसी से नज़रें मिलाने की नहीं पड़ रही थी। ....मुझे डर था कि अब क्या होगा! मेरे पति मुझे घर से निकाल देंगे, तो मैं क्या करूँगी? मैं ये सब शायद इसलिए सोच रही थी, क्योंकि मैंने अपने घर वालों की मरज़ी के खिलाफ काम करना शुरू किया था। ....मुझे लगे कि एक तो ये लोग मुझे ताना मारेंगे और दूसरे जीवन भर के

लिए जिन्दगी में जो कलंक लग गया, सो अलग। मेरे पति मेरी कोई भी बात सुनना नहीं चाहते थे। ... अन्त में दीदी (ऋचा सिंह) मेरे परिवार वालों से बातचीत की, जिससे घर में झगड़े की स्थिति बनने से बच गयी....दीदी के आने के बाद मेरे परिवार के किसी भी सदस्य ने इस घटना का जिक्र नहीं किया।....

यह मेरे जीवन का दूसरा मोड़ था।”

पल्लवी के साथ जो कुछ हुआ वह कोई अनहोनी घटना नहीं थी और जो हुआ, उसने दिलेरी से सामना किया।

सच तो यह है कि महिलाओं के साथ छेड़खानी या हिंसा की वारदातों में उनका पग-पग पर साथ देने वाली कार्यकर्ता अक्सर अपने आपको लेकर डरा करतीं कि कहीं उनके साथ भी ऐसी ही कोई घटना न घट जाए। साथ ही हमेशा यह डर भी दिमाग में बना ही रहता कि अगर घर वालों को इस तरह की कोई मामूली-सी घटना भी कहीं से पता चल गयी, तो वे तिल का ताड़ बनाकर काम छुड़वा देंगे। चाँदनी को साक्षरता-केन्द्र चलाने के लिए जब दूसरे गाँव में जाना होता तो हमेशा डर सताता। शुरुआती दिनों का एक प्रसंग याद करके चाँदनी लिखती है—“एक बार केन्द्र जा रही थी, तो रास्ते में दो लड़के बैठे हुए थे। वे गीत गाने लगे। ....हमारे दिल में ख़ौफ़ था कि कहीं ये वहाँ के नामी गुण्डे न हों। अगर रुकी तो यह पता नहीं क्या करें। बस जल्दी-जल्दी निकल गयी। किसी से कुछ नहीं कहा। मन में सोचा कि किसी से कुछ कहेंगे, तो हमारी ही बदनामी होगी।.....हर वक़्त मज़हब का भी ख़याल आता। जानती थी कि अगर परिवार वालों ने कुछ सुना, तो काम नहीं करने देंगे। इसलिए जो भी बात होती, चुपचाप सहन करती, चाहे वह सही हो या ग़लत।”

जब भी हम अपने आप से या सामूहिक-रूप से ऐसे मसलों से भिड़ते, तब-तब हमें अहसास होता कि सामाजिक इज़्ज़त-आबरू की परिभाषाओं पर हम लाख प्रश्नचिन्ह लगा लें, लेकिन घर-परिवार के साथ रहते हुए इनको बदल पाना कितना कठिन है! ऐसा भी अक्सर महसूस होता कि घर-परिवार और ससुराल को लात मारकर पितृसत्ता की नींव हिलाने की बात करना शहरों और मध्यम-वर्ग से आयी कार्यकर्ताओं के लिये ज़्यादा आसान होता है। हमारे जैसी कार्यकर्ताओं के लिए इन संस्थाओं से मुँह फेरकर काम करना न तो मुमकिन है और न ही हमारा इच्छित-लक्ष्य। हमें तो इन संस्थाओं को साथ लेकर ही आगे बढ़ना है....। तभी तो शुरुआती दौर में हमारे सामने कभी परिवार आ खड़ा हुआ, कभी मज़हब, तो कभी समाज...। बरसों से हमारे दिलो-दिमाग में डर की जो बेड़ियाँ डाली गयी थीं, उन्होंने बार-बार जकड़ कर हमें गूँगा बना दिया। नतीजा यह हुआ कि एक ओर हम घरों के बाहर निकल कर काम कर रहे थे, नये लोगों से मिलकर, बातचीत करके नयी आवाज़ और शक्ति पा रहे थे, लेकिन दूसरी ओर “लोग क्या कहेंगे” जैसे डर भी हमारे मन को मथ रहे थे....।

मधुलिका यह उलझन याद करके लिखती है: “मैं बस अपने मन में यही सोचा करती कि हमारे घर का कोई सुन लेगा तो क्या कहेगा?... हमें बहुत ही डर था कि लोग कहेंगे—देखो, गोपाल अपनी औरत को आवारा घुमाते हैं। जहाँ मनचाहे, यह चली जाती है!”

पर धीरे-धीरे हम छोटे-छोटे डरों को एक तरफ़ रखकर उनकी गिरफ्त से आज़ाद होते और नयी चुनौतियों को गले लगाते गये।

चाँदनी को पढ़ाने का कोई अनुभव नहीं था। केन्द्र की शुरुआत की तो जो महिलाएँ जुड़ीं, वह उम्र में चाँदनी से बड़ी थीं। जब भी कोई बात कहनी होती, चाँदनी को यही लगता कि पता नहीं मेरी बात मानेंगी या नहीं! पर धीरे-धीरे उसकी समझ में आने लगा कि घरों में परेशान महिलाओं के लिए साक्षरता-केन्द्र एक ऐसा ठिकाना है, जहाँ आकर उन्हें अपने मन की गुत्थियाँ एक-दूसरे से और चाँदनी के साथ कहने-बाँटने का मौका मिलता है। महिलाओं की बातें सुनकर उन्हें सही राय देने में, उनका हौसला बढ़ाने में चाँदनी को एक अभूतपूर्व-सुख और शान्ति मिलती। जैसे-जैसे वह औरतों का यकीन जीतती गयी, वैसे-वैसे गाँव में चाँदनी की बात का विरोध भी कम होता गया। फिर तो चाँदनी महिला मुद्दों के अलावा अन्य मुद्दों से भी जुड़ने लगी।

चाँदनी जिस गाँव में केन्द्र चलाती थी, वहाँ जुआ एक सामाजिक-समस्या के रूप में उभर चुका था। इससे औरतों की रोज़मर्रा की जिन्दगी पर बुरा असर पड़ रहा था। चाँदनी ने जब पहली बार यह बात उठाने की कोशिश की, तो गाँव के एक आदमी ने उसे सलाह दी: "आप इस मुद्दे को मत उठाइए, नहीं तो बात ख़राब हो जाएगी।" चाँदनी ने बात सुन ली, पर वह हिम्मत नहीं हारी। उसने गाँव में पुरुषों के साथ अनौपचारिक चर्चाएँ कीं और ज़ोर इसी बात पर दिया कि अगर वे लोग जुआ न खेलें, तो गाँव के विकास और माहौल में बहुत सुधार हो सकता है। चाँदनी की ऐसी शान्त और समझदारी की बातों से गाँव में लोगों का उससे जुड़ाव बढ़ता गया और महिलाओं का संगठन वहाँ उभरने लगा।

चाँदनी के सामने एक कठिनाई यह भी आयी कि गाँव से सम्बन्धित मुद्दों के सन्दर्भ में जब भी वह पुरुषों से बात करती, तो उसके गाँव का कोई न कोई ज़रूर देख लेता और पलक झपकते ही पूरी कहानी बढ़-चढ़ कर उसके पति तक पहुँच जाती। ऐसा ही एक मौका उस समय आया, जब सुन्दरपुर गाँव में एक महिला के साथ उसके पति ने बहुत मार-पीट की। चाँदनी उस महिला के पति से बात करने गयी। तब डर बहुत था कि अगर कहीं मेरे शौहर को पता चल गया कि यह तो पराये मर्दों से बात करती है, फिर तो मुझे काम भी नहीं करने देंगे। उस दिन जब घर आयी, तो देवर से बहुत झगड़ा हुआ और पति ने भी कहनी न कहनी, सब कही।

देवर ने तो दुत्कार कर यह तक कहा: "हमारे घर से निकल जाओ। तुम अपना घर बनवाकर रहना। चमार पासियों में बैठने जाती है। घर से कहकर जाती है कि पढ़ाई का काम करने जा रहे हैं और वहाँ दूसरे मर्दों से बातें करती है। मज़हब के बाहर चल रही है, शर्म नहीं आती? एक दिन कहीं चली जाएगी पढ़ाई का बहाना करके!"

परन्तु बड़े हुए इन कदमों को इस तरह की छिछली गाली-गलौज कहाँ तक रोक पाती? गाँव से सम्बन्धित मसलों पर काम करने की प्रक्रियाओं में बाहरी आदमियों को शामिल करने की या उनसे संवाद करने की ज़रूरत तो पड़ती ही थी। हाँ, यह हम मानकर चलने लगे कि "गैर" मर्दों से बात करने की सामाजिक-मान्यता हमारे लिये दिक्कतें पैदा करती रहेगी। मेहनगर में आयोजित पहले मेले की एक घटना पल्लवी और संध्या को कभी नहीं भूलेगी। मेले के आयोजन के बाद वे दोनों टेण्ट का सामान वापस करने के लिए बस्ती में गयीं। अँधेरा हो चुका था। दुकानदार ने छूटते ही कहा, "क्या तुम लोगों के घरों में आदमी नहीं हैं, जो तुम लोग इतनी शाम को सामान वापस करने आयी हो?"

दुकानदार के हिसाब से टेण्ट जैसा सामान वापस करना आदमियों का काम था। इससे महिलाओं का भला क्या सरोकार हो सकता था। चाहे कार्यकर्ताओं के घरों में हों और चाहे घरों के बाहर—हर जगह महिलाओं के लिए सीमाएँ तो निर्धारित थीं ही कि वे किसके बीच क्या करेंगी, और क्या नहीं। इसलिए जब हम लोगों ने उन बहुत ही तंग पिंजरों की सलाखों को हिलाना शुरू किया, तब हमारा विरोध होना स्वाभाविक था ही।

महिलाएँ गाँव-गाँव में संगठित तो हो रही थीं, पर उन गाँवों से बाहर उनकी कोई पहचान नहीं बन पायी थी। जुआ और शराब ऐसे मुद्दे थे, जिनसे इस पूरे इलाके की औरतें प्रभावित थीं। इसलिये मिश्रिख में पहली रैली हम लोगों ने जुए और शराब की समस्या पर केन्द्रित करके निकाली। राजनीतिक पार्टियों के विभिन्न आयोजनों में महिलाएँ वैसे तो सजावट के रूप में अक्सर शामिल की जाती थीं, पर हमारे और गाँव की औरतों के लिए यह पहला मौका था, जब वे अपनी रैली निकाल रही थीं। इतना बड़ा पल था यह हमारे लिये! कहाँ तो हमें नये गाँवों में जाने पर लोगों से 'नमस्ते' करने में भी संकोच होता था, और कहाँ हम पहली बार अपने ही हक और नये बदलाव के लिये, पूरा दम लगाकर अपनी आवाज़, अपना सन्देश सबको सुनाने के लिये सड़कों और गलियों में निकल पड़े थे।

गरिमा, जिसे उसके मायके में बेज़बान लड़की कहा जाता था, शुरूआती दिनों के रोमांच और जोश को याद करके लिखती है—“पहले हम अधिकतर सामने वालों से सिर झुकाकर बात करते थे... वह चाहे महिला हो या पुरुष। पुरुषों से तो सिर उठाकर बिल्कुल ही बात नहीं कर पाते थे। हमें बचपन से ही दबा कर रखा गया था। कहा गया था किसी से ज़बान मत लड़ाना, जवाब नहीं देना। पर ये स्थितियाँ बनी नहीं रहीं—हम बदले, हमारा स्वभाव बदला।....काम करते हुए मेरे अन्दर का आत्मविश्वास बढ़ा। हमें महसूस हुआ कि हम लोग एक अच्छा और ज़रूरी काम कर रहे हैं, जिसे दूसरे लोग भी अच्छा मानते हैं। इसी से मैंने खुलकर बात करने का साहस पाया। मैं जान ही नहीं पायी कि कब मेरा डर और संकोच टूट गया। सड़कों पर चलने में भी निडरता आने लगी। हम हर वक्त और हर जगह शान से चलने लगे... कदम-कदम पर होने वाली हिंसा व अत्याचार के खिलाफ़ बोलने लगे।”

000

## समझौतों के बीच आगे बढ़ना

*काम से जुड़ने से मेरी आर्थिक स्थिति में तो सुधार हुआ ही...उसके साथ ही साथ अपने अन्दर एक मजबूती पायी, जो कभी नहीं खोऊँगी। यही नहीं, मैंने आगे से भी आगे बढ़कर महिलाओं के लिए सोचने की भी अद्भुत शक्ति पायी...। यह सोच पैदा होने के कारण पति से अक्सर टकराव हो जाता है। लेकिन मेरे लिये मन से कमज़ोर होना अब सम्भव ही नहीं है।*

— राधा की डायरी से

भले घर की सब लड़कियों की तरह बचपन से हमें भी एक 'अच्छी स्त्री' बनने का सपना दिखाया गया था। हमारे दिलोदिमाग पर भी उसी परम्परागत-स्त्री की छवि अंकित थी, जो आर्थिक रूप से पति पर आश्रित होती है और जिसकी पूरी जिन्दगी अपने पति, बच्चों और परिजनों की उम्मीदों और ज़रूरतों को ही पूरा करने में निकल जाती है। हमारे लिए अक्सर यह स्वीकार कर पाना बेहद मुश्किल हो जाता था कि पति और घर-बार से अलग भी औरतों की कुछ इच्छाएँ व ज़रूरतें होती हैं तथा भागीदारी भी! इन्हें पाने का पूरा अधिकार उन्हें मिलना चाहिए। कभी-कभी इन सवालों में हम खुद ही इस क़दर फँस जाते कि अपने मन को समझाने में दिक्कत होती और अपनी मानसिक कशमकश के बीच हम न जाने कितने छोटे-बड़े समझौते कर जाते।

ऐसा ही एक समझौता करते रहना पड़ा हमें काम से जुड़े मानदेय को लेकर। यह सच है कि काम को लेकर हमारे घरों में विरोध हुआ, लेकिन यह भी सच है कि पैसा मिलने के साथ ही यह विरोध कम होता गया। अपनी आय स्वयं कमाने से हमारे जीवन की बहुत सारी स्थितियाँ तो बदली हीं, हमारे ही घरों में हमारा मान-सम्मान भी बढ़ा। पर हमारे लिये एक बड़ा प्रश्न यह उठा कि हमारे द्वारा कमाये पैसे पर अधिकार किसका हो? जिस नयी सोच से हमारा साक्षात्कार हुआ था, उसके मुताबिक हम यह समझ तो रहे थे कि महिलाओं का आर्थिक और पारिवारिक-संसाधनों पर नियन्त्रण होना व उनसे जुड़े निर्णय ले सकना कितना ज़रूरी है। परन्तु अपने ही घरों में हम अपने कमाये पैसे पर किस तरह का अधिकार जमाना चाहते हैं? यह प्रश्न हमारे लिए कई एक बार उलझनों और घरेलू झगड़ों का कारण बना।

शिखा लिखती है: "काम शुरू करने के बाद जब मुझे पहली बार पैसा मिला, तो मैंने घर में जाकर पति को दिया। वह काफ़ी खुश हुए और बोले कि तुम रख लो। आखिर पैसा तो घर ही में खर्च होना था।"

इसमें तो दो राय नहीं कि जिस तंगहाली से हम सब आये थे, उसमें हमारे हाथों कमाया पैसा निश्चित ही घर के कामों में खर्च होना था। पर इस पैसे को घर के किन कामों में खर्च किया जाये, यह फ़ैसला करने का हमें कितना अधिकार था? इस सवाल से उलझती रही गरिमा लिखती है: "जब मेरे पति कमाते थे, तो वह पैसा रखने के लिए मुझे ही तो देते थे। इसलिये मैं भी अपना कमाया पूरा पैसा निकालकर पति को दे देती हूँ। फिर मेरा उससे कोई मतलब नहीं रहता है। मुझे लगता है कि पैसे की वजह से घर में कोई किचकिच नहीं होनी चाहिए। मैंने आपस में सहमति बनाकर रखी है।"

इसके विपरीत राधा के मन में बार-बार दूसरा विचार उठता है। उसे लगता है—"जब मैं नौकरी का पैसा लाती हूँ, तो सारा पैसा इनके हाथ में चला जाता है। मेरे पास अगर होता है, तो भी मैं इनकी मरज़ी के बिना खर्च नहीं कर पाती हूँ। कभी-कभार अगर अपनी मरज़ी से खर्च कर भी पाती हूँ, तब भी पैसे पर इन्हीं का नियन्त्रण रहता है। कभी-कभी मैं सोचती हूँ—मेरी कमायी है, तब उस पर भी पति अपना हक क्यों जमाये रहते हैं?"

पल्लवी ने भी ऐसे ही दौर से गुज़र कर कुछ अलग ढंग से अपनी आय से जुड़ा फ़ैसला लिया: "काम करने के बाद मुझे जब पैसा मिला, तो मैं सोचने लगी कि यह पैसा मैं किसे दूँ—अपने पति के हाथ में दूँ, या सास के हाथ में, या ससुर के हाथ में? दो दिन तक मैं इसी ऊहापोह में पड़ी रही कि

क्या करूँ! काफ़ी सोच-विचार के बाद मैंने यह निर्णय लिया कि यह मेरी अपनी कमायी है, इसे मैं अपने हाथ में रखूँगी, सिर्फ़ मैं खर्च करूँगी। मुझसे जो भी सामान मँगाया जायेगा, मैं सब लाऊँगी। चाहे सामान लाने में सब पैसा खर्च हो जाए, लेकिन मैं खर्च इसे अपने हाथों से ही करूँगी।”

ईमानदारी से देखें, तो राधा जिस कशमकश से गुज़री, उसमें हमारे संगठन से जुड़ी तमाम औरतों के मन का मंथन झलकता है। यह सवाल इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि पैसे कौन रख रहा है, बल्कि यह कि इन पैसों को अपनी मरज़ी से खर्च करने का अधिकार हमें कितना है? हममें से कम ही औरतें पल्लवी की तरह अपनी कमायी अपने हाथ में रखने का निर्णय ले पायी हैं। तो फिर कैसे आँकें इन समझौतों को, जो हमने अपनी कमायी को लेकर किये, और कर रहे हैं? हमारे हाथ में काम है। अपनी लगन और मेहनत से कमाया पैसा है। यह बहुत थोड़ा होकर भी हमारे लिये बहुत कुछ है। इसके बावजूद क्या हम आर्थिक रूप से सशक्त हो पा रहे हैं?

काम के लिये मिलने वाला मानदेय हमारे लिए दूसरी तरह की उलझनों का कारण भी बना। गाँवों में जब कोई ऐसा मुद्दा उठता, जिसमें थोड़ा आपसी-मतभेद या आपत्ति उभरती, तब महिलाएँ बहुत आसानी से ताना मार जातीं—“हाँ-हाँ, आप तो यह काम करेंगीं ही। आपको तो इस काम का पैसा मिलता है। हमें क्या मिलता है?”

कभी हम इस बात को टाल जाते, कभी नाराज़ या दुखी हो जाते और कभी जवाब में कह भी देते कि अगर चौबीस घण्टे काम करने की एवज में एक भी पैसा नहीं मिलेगा, तो कितने दिन समाज को बदलने का काम कर पायेंगे? मगर सच पूछिये तो इस तानाकशी से हमें ग्रामीण-विकास की राजनीति का एक और पहलू समझने को मिला—चूँकि हम गाँव की महिलाएँ होकर अपनी मेहनत के दो पैसे पा रहे हैं, इसलिये बड़ी आसानी से लोग हमें जो चाहे सुना जाते हैं। मगर गाँवों के विकास और ग़रीब महिलाओं के सशक्तीकरण के नाम पर जो करोड़ों के घोटाले और मोटी-मोटी तनख्वाहें बँटती हैं, उन पर इतनी आसानी से खुद गाँव के लोग कभी कोई आरोप नहीं लगाते! यह वर्गवाद नहीं तो और क्या है? क्या किसी बड़े अधिकारी के मुँह पर लोग ऐसे ताने मार सकते हैं? वह तो एक भीठा बोल भी बोल दे, तो सब यही कहेंगे कि अधिकारी होकर भी कितना अच्छा है। मगर ग्रामीण माहौल से आयी कार्यकर्ता के ऊपर टीका-टिप्पणी करना और उस पर अविश्वास करना हर एक के लिये बहुत आसान रहता है।

000

काम और पैसे से जुड़े मुद्दे कितने ही जटिल भले रहे हों, लेकिन जिन परिवारों व समुदायों के बीच हम अपना खून-पसीना बहा रहे थे, उन्होंने देर-सबेर हमारे काम की कीमत को समझा ज़रूर। पल्लवी के घर वालों ने पहले उसके काम का बहुत विरोध किया, पर घरवालों का रुख उस दिन थोड़ा पलट गया, जब घर की ज़मीन का एक झगड़ा थाने पहुँचा। पल्लवी उस दिन एक बैठक के लिए सीतापुर गयी हुई थी। एकाएक उसके पति उसे बुलाने के लिए सीतापुर पहुँच गये। पति को इस बात का डर था कि वह स्वयं थाने जायेंगे, तो पुलिस वाले उन्हें दो थप्पड़ लगा कर घर भेज देंगे। औरत

होने की वजह से एक तो पल्लवी के साथ ऐसा बर्ताव नहीं करेंगे, और दूसरे, पल्लवी थाने पर हिम्मत के साथ बिना डरे या हिचके बात कर लेगी; यह बात भी वह अच्छी तरह जानते थे।

कहाँ तो एक दिन वह था, जब हम कार्यकर्ताओं को अपने ही भीतर बैठी इस मानसिकता से लड़ना पड़ा था कि भले घर की औरतें थाने नहीं जातीं, और कहाँ हमारे घरवाले ही हमें अपने साथ थाने चलने का बुलावा देने सीतापुर तक आने लगे। घर-परिवार से जुड़े ऐसे ही छोटे-बड़े मसले जब हमारे सामने आने लगे, तब हमें लगने लगा कि चाहे अपनी कमायी पर पूरा नियन्त्रण होने में हमारे घरवालों को कितना ही कष्ट हो, लेकिन पारिवारिक-सत्ता की बागडोर का एक बड़ा हिस्सा उन्होंने खुद-ब-खुद हमारे साथ बाँटना शुरू कर दिया था।

000

घर-बाहर की इन चुनौतियों के बीच हम जैसे-जैसे गरीब और दलित महिलाओं की समस्याओं पर काम करते गये, वैसे-वैसे लोगों के बीच हमारे काम को एक पहचान और जगह मिलने लगी। साथ ही अपने लक्ष्यों और रणनीतियों को लेकर हमारी समझ भी पैनी होती गयी। जब-जब हम गाँवों में महिलाओं और कार्यकर्ताओं पर केन्द्रित होकर चिन्तन करते, तब-तब हमें अपनी समस्याएँ गौण लगने लगतीं। हम हर कदम पर तय करने की कोशिश करने लगे कि हम किस समय कौन-सी सामाजिक-लड़ाई को लड़ने की अवस्था में हैं और उससे क्या पाना चाहते हैं। उदाहरण के लिये, हम काम करने घर से बाहर तो ज़रूर निकले और झगड़े भी बहुतेरे मोल लिये—पर कहीं न कहीं समाज के नियमों को इस तरह सँभाले रखना भी ज़रूरी समझते रहे कि हम पर कोई उँगली न उठा सके। औरतों को संगठित करने के काम में हमें यह जिम्मेदारी के साथ सोचना पड़ता कि जब हम कार्यकर्ताओं को सामाजिक मान-मयार्दाओं के नाम पर इतने तीखे प्रहार झेलने पड़ते हैं, तो घरों और मोहल्लों में रहकर इस काम को आगे बढ़ाने वाली महिलाएँ किस तरह की परेशानियाँ सहती होंगी? हमें उनके साथ मिलकर, और अक्सर उनकी जगह खुद को रख कर यह सोचना पड़ता कि महिला मुद्दों पर किस तरह ऐसी लड़ाई छेड़ें, जिससे माँ-बेटियाँ, बहुएँ और सास सब उस जंग के प्रति आकर्षित हों और बेधड़क होकर उसमें जुड़ सकें।

इसी सिलसिले में याद आता है अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस का हमारा पहला मेला, जो हमने करौनी गाँव में लगाया था। यह हमारा बड़ा उत्सव था पर दिलों में इतनी घबराहट भी समायी हुई थी कि मेले के पहले रातों की नींद हराम हो गयी थी। भय था कि मंच पर लोग हमें नाटक करता देखेंगे, तो क्या कहेंगे! अगर हमारा मज़ाक बनायेंगे, तो हमारे काम की कीमत भी तो घटेगी?

हम सभी कार्यकर्ता क्षेत्र की बहुएँ थीं, इसलिये हमारा सिर पर पल्ला या दुपट्टा डालकर चलना ही सम्मानजनक माना जाता था। लिहाज़ा हम लोगों ने यह तय किया कि मेले में रैली और नाटक के दौरान भी हम अपने सिर ढँके रहेंगे। जब रैली निकली, तो जोश के मारे हम दीवाने हो गये—ख़बर ही नहीं लगी कि कब हमारे सिरों से पल्ले गिर गये।

और तब, हमारे पल्लों के गिरने पर किसी ने कोई तूफ़ान भी नहीं मचाया।

उस दिन के बाद हमने भी गिरे हुए पल्ले पूरी तरह वापस खींचने की कोई सजग चेष्टा नहीं की। पर हाँ, बीच का रास्ता ज़रूर चुन लिया। अपने घरों के आसपास तो हम अपना सिर ढँका रखते, लेकिन अपने गाँवों के बाहर कदम रखते ही पल्लों और दुपट्टों को सिर से फिसल जाने देते। मेले की घटना के बाद हम यह भी भली-भाँति समझ गये थे कि यदि बदलाव की कोई भी प्रक्रिया सोच-समझ और सम्मानपूर्वक चलायी जाती है, तो लोग उसे अधिक सहजता से स्वीकार करके मान्यता देते हैं।

000

कुछ मान्यताएँ ऐसी भी थीं, जिनकी जकड़न से हम स्वयं को ही मुक्त नहीं कर पाते थे।

माहवारी को लेकर हममें से कई लोग ऐसे ही मानसिक-दलदल में फँसे हुए थे। बचपन से ही हमारे दिमागों में यह बात ढूँस-ढूँस कर भर दी गयी थी कि माहवारी के दौरान हम अछूत हो जाते हैं।

गरिमा लिखती है: “जब हम लोगों को माहवारी की जानकारी मिली, तो भी मन का भ्रम न टूटे। माहवारी में खाना तो मैं पहले भी बनाती थी लेकिन अचार नहीं छूती थी। घर के अन्य कामों में मैं इसे गन्दा भी नहीं मानती हूँ। पर मेरी हिम्मत ही नहीं पड़ती कि मैं माहवारी के दौरान बैठकर पूजा करूँ।”

कभी-कभी हम सब अपने आप से पूछते हैं कि ऐसा क्यों हुआ कि माहवारी के साथ जुड़ी अन्य सभी भ्रान्तियों को तो हम सब तोड़ ले गये, पर धर्म के नाम पर हमारे दिमाग में जो घर कर गया है, सिर्फ उससे ही नहीं उबर पाये! जानते हैं कि माहवारी गन्दी नहीं है। पूजा कर लेने से कुछ भी ग़लत नहीं होगा। मगर मन के न जाने किस कोने में धर्म को लेकर बैठा हुआ डर हमें इस मान्यता को तोड़ने का साहस नहीं देता है।

इसी प्रकार महिला पुरुषों के रिश्तों की पेंचीदगियों ने भी हमें खूब उलझाया। जब काम से जुड़े थे, तब इस बात की कल्पना तक नहीं की थी कि अपने पतियों के अलावा किसी ग़ैर मर्द से बात भी करने की हिम्मत जुटा सकेंगे...। पराये मर्दों से दूर रहने वाली संकीर्ण-मानसिकता से तो हमने स्वयं को जल्दी ही छुड़ा लिया, लेकिन यौन-सम्बन्धों और इच्छाओं को लेकर अपनी पुरानी विचारधारा को बदलना बहुत ही कठिन लगा।

इन्हीं मुद्दों से लगातार उलझती गरिमा लिखती है: “पहले हम लोग खुद ही कहते थे कि शादीशुदा-औरत दूसरे आदमी से क्यों बात करे? फिर यह भी लगा कि जब पति अपनी पत्नियों को छोड़कर दूसरी औरतों से सम्बन्ध बना सकते हैं, तो औरतें भी दूसरे आदमियों के साथ रह सकती हैं। मेरी राय में तो शादी का बन्धन ही दहेज और गुलामी की रूढ़िवादी परम्पराओं को जगाता है। मगर इस बन्धन से मुक्त होकर भी एक निश्चित लड़के का एक निश्चित लड़की से ही सम्बन्ध होना चाहिए। साथी बनाने की स्वतन्त्रता सबके पास होनी चाहिए और अगर नहीं पसन्द है, तो दूसरा साथी चुनने की आज़ादी भी होनी चाहिए। पर मैं यह कल्पना तो कर ही नहीं पाती कि एक औरत दो-तीन पुरुषों के साथ सम्बन्ध बनाये। ऐसे में औरत भी कितनी स्वतन्त्र हो सकेगी? फ़ुटबाल की तरह खेलने की चीज़ भर बन कर रह जायेगी? किससे अपने मन की बात कहेगी? कौन समझेगा उसे? यह सब सवाल ही नहीं, बहुत उलझी गुत्थियाँ भी हैं।...मुझे अभी भी इन सबसे निकलने का रास्ता नहीं दिखा है।”

काम के दौरान ऐसे अनेक मौके आये, जब हमें ऐसे सवालों से सामूहिक—रूप से जूझना ज़रूरी लगा। मिसाल के तौर पर जब पहली बार सन्तोष नामक महिला का केस आया और पल्लवी और संध्या को पता चला कि उसके पेट में पलने वाला बच्चा उसके पति के अलावा किसी और का है, तो दोनों ही उस पर बहुत नाराज़ हुईं। उससे कहा कि अब हम तुम्हारी कोई मदद नहीं करेंगे। इस सोच में कहीं न कहीं यही भाव निहित था कि तुम अच्छे चरित्र की औरत नहीं हो। दूसरी ओर इन्हीं पल्लवी और संध्या के क्षेत्र में जब एक कुँवारी लड़की गर्भवती हुई और इन तक ख़बर पहुँची कि उसके घर के लोग उसे मार डालने पर आमादा हैं, तो पल्लवी ने उसे बचाने में खुद को पूरी तरह झोंक दिया। अपने कार्यक्षेत्र में पहली बार—चाहे एक दूर के गाँव में ही सही—लेकिन हम लोगों ने यह सवाल डंके की चोट पर उठा ही दिया कि कुसूर सिर्फ़ उस लड़की का ही क्यों माना जाये? लड़का भी समान रूप से दोषी क्यों नहीं है? और, सामाजिक मान्यताओं के अनुसार यदि उसके गर्भ को एक ग़लती की संज्ञा दे भी दी जाये, तब भी अकेले उस लड़की को ही सज़ा देने का हक़ हमें किसने दिया? कैसे है यह हमारा अधिकार?

कोख का होना तो हम औरतों की ताक़त है। पर कैसी विडम्बना है कि जिस कोख से हम औरतें सृष्टि का निर्माण करती हैं, उसी कोख की वजह से सन्तोष जैसी लड़कियों को अग्नि—परीक्षा के लिए बाध्य किया जाता है। सन्तोष के संघर्ष ने हमें अपनी कोख की ताक़त को पहचानने और समझने का मौका देकर हमारी सोच को एक नयी ऊर्जा दी। हम लोगों ने औरतों की इच्छाओं और ज़रूरतों पर आपस में चर्चाएँ करना शुरू कर दिया। किसी औरत को ग़लत कहने से पहले खुद को रोककर हम सोचने लगे कि आखिर क्या हुआ होगा उसके साथ? क्यों हम औरतों के ही हिस्से में सारे बन्धन, नियम और पाबन्दियाँ ज़बरन ढेल दी गयी हैं? क्यों हम ही से पवित्रता की सारी उम्मीदें रखी जाती हैं और क्यों हम ही को बार—बार अग्नि परीक्षाएँ देने के लिये मजबूर किया जाता है? क्यों सीता की अग्नि—परीक्षा को इतना महिमा—मण्डित करते हुए बचपन से ही हमारे अन्दर दूँस दिया जाता है? क्यों विवाह में बेहद अरुचि रखने वाली संध्या ने केवल एक किताब पढ़कर यह मान लिया कि यदि बिना सुहाग धारण किए मर गयी, तो स्वर्ग नहीं मिलेगा? क्यों हमारी पगार से खुश होने के बावजूद हम सबके पतियों ने सबसे पहले हमारे काम का विरोध इसी बात को लेकर किया कि यह कैसी नौकरी है, जहाँ रात को भी रुकना है?

ऐसे ढेरों प्रश्न हम सबके सामने बार—बार उठकर निश्चित ही हमें गहरे असमंजस में डालते रहे।

000

## पहियों पर नाचते हौसले

दलित और शोषित महिलाओं के हक़ के लिये लड़ना कभी भी हमें महज़ काम नहीं लगा। यह संघर्ष तो हमारे लिये वे सारे अधिकार वापस पाने का साधन बनता गया, जो हमारे समाज ने हमसे धुर बचपन में

छीन लिये थे। जैसे, शिक्षा का रुक जाना हममें से कई के लिये बहुत ही पीड़ादायक अनुभव था। हमने कभी ख्वाब में भी कल्पना नहीं की थी कि बाल-बच्चेदार होने के बाद हम दोबारा अपनी पढ़ाई शुरू कर सकेंगे। बहुत ही मुश्किल था यह काम। हम सबके बच्चे पढ़ रहे थे—उनकी पढ़ाई का पूरा खर्च उठाने के बाद अपनी पढ़ाई के लिये पैसों का जुगाड़ करना हँसी-खेल नहीं था। परन्तु महिला मुद्दों से जुड़ने के बाद जो साहस पाया, उसने सपने बुनने और उन्हें पूरा करने की ज़बरदस्त लगन और हिम्मत ही नहीं, दिशा भी दे डाली। चाँदनी ने जब हाई-स्कूल की परीक्षा देने का फैसला किया, तब उसे ऐसा कोई ज़रिया नहीं मिला, जहाँ से पैसों का बन्दोबस्त हो पाता। चाँदनी के पास माँ की दी हुई सोने की झुमकियों की एक जोड़ी थी। प्यार तो बेइन्तहा था उसे अपने इस एकमात्र कीमती ज़ेवर से, लेकिन जब हाई-स्कूल का फार्म भरने का वक़्त आया, तो एक बार भी झिझके बिना चाँदनी ने अपनी झुमकी पति को गिरवी रखने के लिए दे दी।

पढ़ने-लिखने के अलावा एक और सपना था जिसे देखने का हक़ महिला होने के नाते हमें कभी दिया ही नहीं गया था। वह सपना था साइकिल पर सवार होकर हवा से बातें करते हुए उड़ने का। पर जिस बचपन ने हमारे पाँवों में बेड़ियाँ डालकर हमें अच्छी लड़की की परिभाषा सिखाई थी, उसी ने जवान होते-होते हमसे साइकिल चलाने जैसा सपना देखने की हिम्मत भी छीन ली थी। कभी बड़ी लालच से देखे इस सपने को हम तो पूरी तरह भूल से ही गये थे। तभी तो काम करने के एक साल बाद जब साइकिल चलाना सीखकर क्षेत्र में आने-जाने की बात उठी, तो संध्या को मानसिक रूप से बड़ी कशमकश करनी पड़ी: “यहाँ तो किसी की बहू या औरत नौकरी भी नहीं करने जाती, अब साइकिल कैसे चलाऊँगी? लड़कियाँ तक तो चलाती नहीं हैं, हम तो बहू हैं।... एक दिन हमने सोचा कि साइकिल नहीं चलायेंगे, भले ही काम छोड़ देना पड़े। मगर वह दिन आ ही गया जब हमको साइकिल से जाना पड़ा।”

हम कार्यकर्ताओं में साइकिल ख़रीदने की सबसे पहली पहल की मधुलिका ने। उस समय घर में साइकिल को लेकर कोई ख़ास विरोध तो नहीं हुआ, लेकिन यदि आज भी सास किसी बात पर नाराज़ होती हैं तो साइकिल का बहाना लेकर यही ताना देती हैं—“रण्डी बनी घूमती है दुनिया भर में!”

शुरुआत में राधा को डर था कि इसी तरह का लांछन उस पर भी लगाया जायेगा, इसलिये बड़े पशोपेश में थी कि पति से साइकिल के बारे में कैसे कहे! एक दिन वह घर में झूठ बोली कि मीटिंग के लिए सीतापुर जा रही है, लेकिन जब साइकिल लेकर घर पहुँची तो पति ने थोड़ा सुनाते हुए मज़ाक के लहजे में कहा, “अब तो मेरी नाक ऊँची कर दोगी!” पर एक बार जब राधा ने साइकिल चलानी शुरू कर दी, फिर तो उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। राधा को लगा कि उसके बचपन का शौक पूरा हुआ।

संध्या को अपने मन से तो निश्चित ही जूझना पड़ा कि वह बहू होकर साइकिल कैसे चलायेगी, लेकिन उसके घर वालों ने कभी उसे साइकिल चलाने से नहीं रोका। पर हममें से कुछ को घरवालों का काफ़ी विरोध झेलना पड़ा।

पल्लवी के पति ने जैसे ही साइकिल का नाम सुना, घर में तूफान आ गया। उन्होंने कहा—“हाँ, बस यही तो बचा है। वह भी पूरा कर लो...गाँवों में जा—जाकर तो मेरी इज्जत की धज्जियाँ उड़ा दीं, अब साइकिल पर सवार होना बाकी है।”

पल्लवी ने घरवालों से छिपकर साइकिल खरीदी। घर के लोग यही समझते रहे कि कार्यालय से मिली है। इस पर भी पल्लवी के पति को यह कतई मंजूर नहीं हुआ कि वह खुद साइकिल चलाकर अपने क्षेत्र में जाए। पारिवारिक—जमीन के झगड़े के सिलसिले में पति जब पल्लवी को थाने ले जाने के लिए बुलाने आये, तो ऋचा सिंह से उनका सामना हुआ। पल्लवी के शब्दों में: “दीदी ने पूछा—‘साइकिल चलाने में बेशर्मी है और थाने पर जाने में बेशर्मी नहीं है?’ लम्बी बहस के बाद वे (पति) तैयार तो हो गये पर साथ ही यह भी धमकी दी कि अगर कभी चौराहा पार करेगी तो गोली मार दूँगा।”

ऐसी खोखली धमकियाँ भला पल्लवी को कहाँ रोक सकती थीं? उसे तो बस एक बार अनुमति मिलने की ज़रूरत थी। आज वही पल्लवी एक दिन में न जाने कितनी बार साइकिल पर सवार होकर गुज़रती है, उसी चौराहे से, जिसे पार करने के नाम पर पति से उसे गोली मारने की धमकी मिली थी।

घरेलू विरोध जहाँ बहुत बड़ी समस्या नहीं बना, वहाँ दूसरी अड़चनों ने पीछा नहीं छोड़ा। साइकिल पर सवार होकर गाँव जाना तो दूर की बात है, गरिमा के भयभीत मन को तो यही विश्वास नहीं हो पा रहा था कि वह कभी साइकिल चलाना सीख भी पाएगी! बहुत कोशिश की, तब कहीं जाकर साइकिल चलाते बना। और जब एक बार चलाना आने लगा, फिर तो ऐसा रोमांच भर आया कि सपने में भी गरिमा यही देखती कि सब जगह साइकिल चलाकर पहुँच रही है...। शिखा ने भी डरते हुए सीखने की शुरुआत तो की, मगर जब दो बार लगातार साइकिल से गिरने पर हाथ में चोट आयी, तब हौसला जवाब दे गया।

अगर ईमानदारी से इन सारी स्थितियों का मूल्यांकन करें तो यह भी पूछना होगा कि सिर्फ साइकिल से गिरने के ही डर ने शिखा को रोक लिया या फिर उसके चारों ओर पसरे मध्यम—वर्ग के दिखावों और मान—मर्यादाओं की परिभाषाएँ भी रोड़े बनकर उसकी राह में अटकी रह गयीं?

चाँदनी इस लेखकीय टोली की एकमात्र ऐसी सदस्या है, जो शिक्षिका होने के कारण अन्य कार्यकर्ताओं से जुड़ी साइकिल चलाने की इस प्रक्रिया से अलग रही। चूँकि चाँदनी का काम केवल एक ही गाँव में केन्द्रित रहता था, इस वजह से कार्यक्रम के अन्तर्गत उसे साइकिल चलाने का मौका नहीं मिल पाया। इसके अलावा चाँदनी की आर्थिक—स्थिति ने भी कम ही साथ दिया। आज भी साइकिल चलाना सीखने का ख़्वाब उसके मन के एक कोने में दुबका हुआ सही मौका पाने का बेकरारी से इन्तज़ार कर रहा है...

हममें से जिनको यह सपना पूरा करने का अवसर मिला, उनके अनुभव आपस में बाँटने के बाद यही सवाल सामने उभर कर आता है कि हमारे जिस ग्रामीण—परिवेश में साइकिल के बिना लोगों का गुज़ारा नहीं होता, उसी माहौल में हमारा साइकिल चलाना इतना बड़ा पहाड़ या गुनाह जैसा क्यों बना दिया गया? सिर्फ़ इसीलिए तो कि हम महिलाएँ हैं। आज हम सभी को इस बात की सन्तुष्टि है कि इतने संघर्षों के बाद हम लोगों ने जो शुरुआत की, वह सार्थक रही है। आज जब हमारे कार्यक्षेत्र में

ढेरों लड़कियाँ साइकिलों पर सवार होकर निकलती हैं, तब अपनी और इस नयी पीढ़ी के बीच का फर्क महसूस होता है। हम सबकी भला ऐसी किस्मत कहाँ थी! हम तो बहू बनने के बाद जब साइकिल पर सवार हुए, तो हमेशा यही कोशिश रही कि हमारे सिरों से पल्ले न खिसकें—इसलिए नहीं कि इन पल्लों को हम कोई बहुत बड़ी मान्यता देते हैं, बल्कि सिर्फ इसलिए कि नयी आज़ादी को अपनी झोली में अपने हक के नाते बटोरने का जो सिलसिला हमने शुरू किया है, उसे इन पल्लुओं की आड़ में लगातार बढ़ाते चले जाएँ।

000